नई कहानी में सांस्कृतिक गत्यावरोध के प्रमुख कारण

डॉ. दिव्या सुथार, एम.ए.(हिन्दी), बी.एड., पी–एच.डी.(हिन्दी)
धर्मपत्नी संदीप कुमार जांगड़ा
359 गली न01 दीवान बस्ती
वार्ड न0 12 पेहोवा, कुरुक्षेत्र हरियाणा। 136128

हमारे यहां 16वीं सदी में सांस्कृतिक–संक्रान्ति की जो प्रक्रिया आरंभ हुई, वह अपने प्रथम चरण में उदारतावादी होने के कारण समन्वयोगुखी, नम्र और सामंज्यवादी थी परंतु देश में उग्रतावादी राष्ट्रीय आंदोलन के श्री गणेश के साथ ही वह संतुलन टूट गया। राजनैतिक और सांस्कृतिक आंदोलन गडगड से होकर रल–मिल गये। परिणामतः सांस्कृतिक क्षोभ राजनैतिक मंच से प्रसारित और राजनैतिक असंतोष सांस्कृतिक क्षेत्र से प्रचारित होने लगा क्योंकि पराधीन देश की संस्कृति राजनीति से स्वतंत्र हो ही नहीं सकती।[1] इसलिए हमारी सामाजिकता के नव्यमूल्यों के सृजन काल में ही अप्रत्याशित तनाव आ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि नए सामाजिक मानदंडों, लोकाचारों, मान्यताओं और मूल्यों के निर्माण में गत्याविरोध पैदा हो गया। इस स्थिति के लिए कई कारण उत्तरदायी है जिनमें सबसे पहली और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि –– सांस्कृतिक विकास–प्रक्रिया का आरंभ शांति, सुख समृद्धि और काल–जन्य सामंजस्य की स्थिति में न होकर संघर्ष की स्थिति में हुआ और संघर्ष भी वह जो राजनीतिक सीमाओं पर ही नहीं बल्कि धार्मिक, सामाजिक अर्थात् पूरे सांस्कृतिक 'फ्रन्ट' पर हो रहा था।

ये सांस्कृतिक परिवर्तन 'देश जीवन की आभ्यंतरिक शक्तियों के स्वाभाविक विकास के रूप में न होकर दो भिन्न सभ्यताओं के संपर्क द्वारा हुए संपर्क स्थिति होने के समय इन दो सभ्यताओं में एक दुरूह, उन्नत तथा सजीव थी, दूसरी सरल और गतिहीन थी। फलतः पश्चिमी सभ्यता के संपर्क ने भारतीय समाज को स्वाभाविक प्रगति प्रदान कर उसके अलखाए जीवन को तीव्र आघात तथा वेग से झकझोर डाला। इसलिए इस संपर्क से बहुत अच्छा परिणाम न निकल कर अनेक अंशों में सामाजिक एवं धार्मिक अराजकता का जन्म हुआ। समाज और धर्म में एक भारी संकट उपस्थित हो गया।''[2] हमारी धार्मिक सांस्कृतिक दोहन–मंथन में किसी निष्कर्ष तक पहुंचने में स्वयं को असमर्थ पर रहे थे। इधर देश में सांस्कृतिक नव–निर्माण की जो चेतना उभर रही थी, उसे निकास–स्त्रोत नहीं मिल रहा था। उचित निकास–स्त्रोत न मिल पाने का परिणाम यह हुआ कि

[1] "The politics and the culture of a subject country cannot be separated from each other". Modern Indian Culture : D.P. Mukerji, p.251

[2] आधुनिक कहानी की परिपार्श्व, डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृष्ठ 16–20

पाश्चात्य संस्कृति को पचा न पाने वाला भारतीय वर्ग नव निर्माण के स्थान पर 'प्राचीनता के पुनरूत्थान की बात ले उड़ा, जिसके फलस्वरूप सामाजिक सांस्कृतिक चेतना दो धाराओं में अलग हो गई। हम भारत के पश्चिमीकरण के हिमायती और अनुयायी तो हो गए परंतु अपने–अपने घरों, मनों में और सोचने–समझने व निष्कर्ष लेने के तौर तरीकों में हम पूरे पुराणपंथी ही बने रहे। ''बौद्धिक दृष्टि से हिंदु धर्म के प्रचलित रूप में विश्वास न रह जाने पर भी सामाजिक, नैतिक तथा आघ्यात्मिक जीवन उसी से संचालित होता रहा।''[1] और सांस्कृतिक तन्द्रा की यह दशा अभी तक नहीं टूटी। हम बहुत अर्थों में अब भी स्वतंत्र अर्थ न ले पाने की दुविधा के श्राप से ग्रस्त होने के कारण जड़ बन बैठै हैं। इस बीच जितने भी तथाकथित सुधारवादी आंदोलन हुए, वे प्रायः सभी एकांगी और प्रकारान्तर से पुरानी मान्यताओं को ही नई स्थापनाओं द्वारा प्रस्तुत करने के प्रयास में पुराने पड़ गये। उदाहरण के लिए, हम नये धार्मिक–सांस्कृतिक सुधारवादी मंच से समाजवाद, मानवतावाद, विश्व बंधुत्व, आघ्यात्मवाद आदि के नारों द्वारा जाति–पाति, छुआछुत, धर्म–कर्म, वर्ग भेदों को मिटाकर समान मानकर समानाधिकार देने–दिलाने की बात तो कहते रहे लेकिन इसके व्यावहारिक पक्ष पर किसी ने कोई ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप एक भी शुद्र को अपना रसोईया रख लेने या घर में आने वाली मेहतारानी से रसोई अथवा बर्तन–सफाई का काम करवाने वाले व्यक्ति एक–प्रतिशत भी शायद ही मिलें। हम घर से बाहर दफ्तरों, स्कूलों, कॉलेजों, सभा–सोसायटियों में सब भेदभाव भुलाकर तो एकमेक हो जाते हैं, लेकिन अपने अपने घरों में आकर उदारता और आधुनिकता का वह लबादा पहनकर भी पुराण पंथी ही बने रहते हैं। ''घर'' और ''बाहर'' अर्थात् 'कर्म' और 'चिंतन' का यह अंतर्विरोध इसलिए बना कि बाह्य जीवन जिस शिष्टाचार की मांग करने लगा, वह घर के वातावरण से मेल नहीं खाता था और बाह्य जीवनगत स्वच्छन्दता घर की चारदीवारी में इसलिए न घुस पाई कि वहां अभी भी मध्ययुगीन संस्कारों का दबदबा है। इस प्रकार घर और बाहर के वातावरण में व्यक्ति के अंतर्मन और बाह्य जगत में इस विरोधाभास ने सामाजिक चिंतन का संतुलन बिगाड़ दिया।

दूसरी तरफ पश्चिमी दर्शन के जो चिंतन–सूत्र हम तक पहुंचे वह नितांत भिन्न देशकाल और परिस्थितियों में निकाले गये निष्कर्ष होने के कारण हमारी समस्याओं और चिंताओं का हल नहीं बन सके। हमारे यहां चितंन के स्तर पर जो अंतर्विरोध उभरे हैं, वे पश्चिमी अंर्तद्वन्द्व और निर्वैयक्तिकता जन्य शून्यय से भिन्न अपने चरित्र–निर्माण में मौलिक है। इस दृष्टि से यह कथन सत्य है कि––

''हमारा परायापन दूसरे ढंग का है। यूरोप में संपन्नता वाले अर्थतंत्र में पूरे रोजगार, पूरी तुष्टि तथा अधिक अवकाश के बीच आत्म–निर्वासन विकसित होता है और हमारी परिस्थितियां ठीक

[1] वही, पृष्ठ 21

उल्टी हैं। अतः हमारे यहां एक विवश और अपंग किंतु ऊर्जस्वी मनुष्य का परायापन है जो कर्म का अवसर ही नहीं पा सका है। अतः यहां आक्रोश और क्षोभ की प्रधानता है न कि दर्शन की विरचित या मृत्यु की साधना अतः यहां सामाजिक प्रयोजनों के व्यावहारिक झूठ के उद्घाटन से उत्पन्न विभ्रान्तिकरण (डिसइल्युजनमैण्ट) अधिक है।[1] इस प्रकार परम्परागत भारतीय सामाजिकता के संदर्भ में पाश्चात्य संस्कृति की विसंगति और नवीन परिस्थितियों अनुरूप सांस्कृतिक परंपरा की सारहीनता के कारणों ने हमें सांस्कृतिक–शून्यता की स्थिति ला खड़ा किया और हम एकाएक कि्मकर्त्तव्यविमूढ़ से हो गये। इस सांस्कृतिक शून्यता को हम अक्सर पाश्चात्य सांस्कृतिक विभ्रान्तिकरण के साथ रखकर देखते हैं जो समाजशास्त्र की दृष्टि से अत्यंत गलत है। हर देश की सामाजिकता अपने ही ढंग से मोड़ लेती है। इसलिए हमारी कुण्ठा, अकेलापन और अस्तित्त्व का संकट उससे नितांत भिन्न है–वह टूटते परिवार से उद्भूत है। वह आर्थिक संबंधों के दबाव से अनुस्यूत है– हम अपने सलीब स्वयं होने वालों की स्थिति नहीं। हमारी स्थिति दूसरों द्वारा गाड़े गये सलीबों पर जबर्दस्ती लटका दिये गये लोगों की है।[2]

धार्मिक–सांस्कृतिक आस्थाएं सामाजिक व्यवस्था के लिए रीढ़ का काम करती हैं। उनके बिना समाज और व्यक्ति की कल्पना ही संभव नहीं हो पाती।[3] धर्म और संस्कृति द्वारा समाज की समस्याओं और असुविधाओं को समाधान तथा सामाजिक विकास–व्यवस्था और नैतिकता का मार्ग प्रशस्त होता है। इसलिए वे अपने आप में मानवता का व्याकरण भी हैं और सभ्यता का इतिहास भी। धर्म व्यक्ति को अपने से, व्यक्ति से, परिवार से, समाज से और पूरी समसामयिक मानव–जाति से बाँधता है तो संस्कृति पूरी समकालीन मानव जाति को सभ्यताओं के अनादिकालीन इतिहास से बांध कर राष्ट्रीयता के बंधन मजबूत करने का काम करती है। धर्म और संस्कृति की विभिन्न विचारधाराओं से जीवन के प्रति समाज का एक दृष्टिकोण निर्धारित होता है। यही दृष्टिकोण समाज के संस्कारों का निर्माण करता है और जनजीवन के मानदण्ड निश्चित करते हुए सामाजिकता को लक्ष्मण रेखाओं में बांधता है। इस प्रकार यह एक आत्मिक मूल्य हुआ जिसके विषय में कहा गया है– किसी सभ्यता का वास्तविक स्वरूप उसकी रूढ़ियों और संस्थाओं से उतना ज्ञात नहीं होता, जितना कि उसके आत्मिक मूल्यों और मन की सज्जा से ज्ञात होता है। धर्म सभ्यता का आंतरिक पक्ष है, मानों वह सामाजिक संगठन रूपी शरीर की आत्मा हो। विज्ञान का उपयोग, आर्थिक

---

[1] आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण, डॉ0 रमेश कुंतल मेघ, पृष्ठ 134

[2] नई कहानी की भूमिका, कमलेश्वर, पृष्ठ सं0 86

[3] "As something shared and supra individual, culture can exist only when a society exists and conversely every human society is accompanied by a cuture."

- The Nature of Culture – A.L. Kroebar (1952)

Part I, page 181

`– हिंदी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन, डॉ0 चण्डीप्रसाद जोशी, पृष्ठ 16 पर उदृत।

समझौते, राजनैतिक संस्थाएं आदि संसार को बाह्य रूप से संगठित कर सकती हैं, परंतु एक सुदृढ़ और स्थिर एकता के लिए विचारों और आदर्शों की अदृश्य, किंतु गंभीरतर कड़ियों को पक्का किया जाना चाहिए।

मानवीय कुटुम्ब के पुनर्निर्माण के कार्य में धर्म द्वारा पूरा किया जाने वाला भाग विज्ञान के भाग की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।[1] इस संबंध में डॉ0 राधाकृष्णन कहते हैं – यदि मानवता की आत्मा का विकास होना हो, तो वह केवल उसकी सुदरतर ऊर्जाओं के प्रयोग द्वारा ही हो सकता है।[2] यहां 'धर्म' और 'सुंदरतर ऊर्जाओं' से तात्पर्य सांस्कृतिक तत्त्वों से ही है जो व्यक्ति–मन के संस्कार बनकर उसके और उसके माध्यम से समाज के जीवन–दृष्टिकोण और चिंतन–पद्धति का निर्माण करते हैं। ये जीवन दृष्टिकोण और चिंतन–पद्धति जड़ प्रकृतिमय नहीं क्योंकि इनके मूल कारक 'संस्कार' ही अपने आप में परिवर्तन धर्म है क्योंकि 'विचार' परिवेश, भौतिक आधार और संबंधों का निरंतर संक्रमण होते रहने की तरल स्थिति ही यथार्थ की स्थिति है[3] और यह 'यथार्थ' कोई स्थिर तत्त्व नहीं है, वह निरंतर गतिमान है और उसके हजार पहलू हैं जो आदमी को बदलते जाते हैं।[4] इस अध्याय में संबंधों की नैरन्तर्य–संक्रमणशीलता अर्थात् यर्थाथ की शाश्वत प्रवाहमयी स्थिति के आधुनिक प्रारूपों के विभिन्न संदर्भों और चरित्र के अध्ययन द्वारा उसके प्रसंग में नई कहानी का अध्ययन करना है। साहित्य में धार्मिक–सांस्कृतिक–यथार्थ से तात्पर्य है परिवर्तनधर्म परिवेश में नई पुरानी नैतिकता, लोकाचार, आध्यात्मिक–दार्शनिक–सामाजिक मान्यताओं, आस्थाओं और जीवन–दृष्टियों का बिना किसी पूर्वाग्रह के अध्ययन–सर्वेक्षण करते हुए तटस्थ निर्णयों तक पहुंचना और समाज विशेष के धार्मिक–सांस्कृतिक व्यवहार को समझना–समझाना।

सांस्कृतिक विकास में ठहराव, जड़ता, गति–क्षिप्रता के कारण परंपरागत विश्वासों में अंध आस्था पनपने लगती है जिसके परिणामस्वरूप स्वस्थ लोकाचार रूढ़ होकर समाज को निष्क्रिय और गतिहीन बना देता है। इससे समाज और राष्ट्र में जड़ता तथा व्यक्ति में आलस्य आने लगता है। कालांतर में इन स्थिर मान्यताओं की संकुचित–सीमाओं में व्यक्ति स्तर पर व्यापक चेतना और स्वतंत्र चिंतन अर्थात् विकास की संभावनाओं के लिए घातक सिद्ध होता है। हमारे यहां इतिहास में यह स्थिति मुसलमानों के आगमन के साथ ही आरंभ हो गई और 20वीं सदी तक निरंतर बनी रही। इस लम्बी जड़ता का परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति, समाज और राज्य की तुलना में धर्म सबसे अधिक प्रभावशाली कारक बन गया। हमारे धर्म में पुर्नजन्म–सिद्धांत की मान्यता के कारण हम भाग्यवादी हो गये। इस भाग्यवाद ने अंधविश्वास की प्रवृति को आलम्बन दिया जिसके फलस्वरूप

[1] देखिये – धर्म : तुलनात्मक दृष्टि में, डॉ0 राधाकृष्णन, पृष्ठ 35–36
[2] वही, पृष्ठ 36
[3] नई कहानी की भूमिका, कमलेश्वर, पृष्ठ 65
[4] वही, पृष्ठ 57

वैज्ञानिक चिंतन पद्धति के विकास के अवसर ही समाप्त हो गये और हम सदा के लिए मोक्ष–प्राप्ति के लिए, आध्यात्मिकता के लिए, पारलौकिक–ध्येय के लिए बिना अविश्वास, अश्रद्धा या शंका का अधिकार पाये, धर्मशास्त्रों पर निर्भर रह कर वर्तमान जीवन की अहमन्यता के प्रति तटस्थ हो गए। हमारी धार्मिक–सांस्कृतिक जड़ता के कारण अशिक्षा, पुनर्जन्मवादी–सिद्धांत, भाग्यवादी आस्था, अंधविश्वास और वैज्ञानिक चिंतन पद्धति का अभाव है। हमारे देश में परंपराओं की जड़ता का ह्रास और सांस्कृतिक नव्य जागरण अर्थात् मोहभंग का इतिहास अंग्रेजों के खिलाफ मुक्ति संघर्ष की उत्तरोत्तर बढ़ती व्यापकता और राष्ट्रीय भावना के विकास के साथ ही हुआ – इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण का चरित्र मध्यकालीन सांस्कृतिक आंदोलनों से कई अर्थों में भिन्न रहा। इसकी एक विशेषता यह रही कि यह प्रत्यक्ष रूप से न होकर राजनैतिक आन्दोलन की गहरी तह में भीतर चलता रहा और इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म की महता कम हो गई। 'मध्ययुगीन संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि व्यक्ति समाज तथा राज्य की अपेक्षा धर्म–परायण अधिक माना जाता था[1] परंतु यहां आकर यह आधार एकाएक खिसक गया। इसका फलस्वरूप पहले यहां रहन–सहन तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदले बिना धर्म परिवर्तन होता था अब वहां आधुनिक भारत में धार्मिक आस्थाएं बदले बिना लोगों के रहन–सहन तथा जीवन दृष्टिकोण में परिवर्तन आने लगा।[2]

धर्म के प्रति घटती हुई प्रतिबद्धता और जीवन के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण ने भारतीय सामाजिकता को सांस्कृतिक मोहभंग की स्थिति में ला खड़ा किया; परिणामतः सामाजिक मूल्यों और मानदंड़ों में ही परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि हमारे यहां सांस्कृतिक परिवर्तन एक तो धीरे–धीरे स्वाभाविक न होकर आकस्मिक ढंग से आरंभ होकर एकाएक तीव्रतर हो गया, दूसरे, वह हमारी आदर्शवादी संस्कृति की नितांत विरोधी भौतिकतावादी संस्कृति के साहचर्य से आरंभ हुआ। इसलिए समस्त धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र और नीति–नियंत्रण–संहिताएं धरी की धरी रह गई तथा विभिन्न क्रान्तिकारी तत्त्वों ने सांस्कृतिक परिवर्तन की आवश्यकता रेखांकित कर दी। यह स्थिति सांस्कृतिक विघटन की भूमिका का पहला सौपान है। यहीं से व्यक्ति परिवार, मानव–समुदाय और समाज के पारस्परिक संबंधों एवं परिवेश में 'परिवर्तन' होने लगा। इस दबाव ने यथार्थवादी वैज्ञानिक दृष्टि को जन्म दिया।

इस दबाव के और भी महत्त्वपूर्ण कारक तत्त्व हैं – जैसे : पश्चिमी भौतिकतावाद से साहचर्य और औद्योगिक सभ्यता का उत्तरोत्तर बढ़ता प्रभाव। भौतिकवादी जीवन दर्शन के मूल में भी

[1] हिंदी उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन, डॉ0 चण्डीप्रसाद जोशी, पृष्ठ 15

[2] "In the past, men had changed their creed without changing their way of life. Now a process began by which men changed their way of life witout changing their creed."
- The Indian Heritage – Humayun Kabir, page 18

औद्योगिक सभ्यता ही है इसलिए प्रस्तुत संदर्भ में इसकी विस्तृत व्याख्या आवश्यक है। इस विषय में यह कोई अत्युक्ति नहीं कि 'धार्मिक या नैतिक मान्यताओं ने आदमी की उतना नहीं बदला है जितना कि 20वीं सदी के औद्यौगिकरण ने' क्योंकि 'भौतिक आधारों के बदलने से समाज का संतुलन बदलता है और इस संतुलन के बदलते ही मनुष्य का चिंतन भी बदलने लगता है''।[1] इस संतुलन के बदलते ही ''पौराणिक, मध्यकालीन और जमींदारयुगीन संस्कारों से युक्त दृष्टि को समाजवादी व्यवस्था का रूप दिया गया और उसी के साथ औद्यौगिकरण शुरू हुआ जिसने बहुद हद तक सामाजिक संबंधों को अव्यवस्थित कर दिया।''[2]

ज्ञान–विज्ञान और विशेषकर तकनीकी सभ्यता ने औद्यौगीकरण की आवश्यकताओं और संभावनाओं का विस्तार करके जीवन की सामाजिकता और सांस्कृतिकता पर नये कोण से दबाव डाला है। भारतीय समाज की सभी पाश्चात्य संपर्कों ने मिलकर भी उतना प्रभावित नहीं किया जितना अकेली औद्यौगिक सभ्यता ने। क्योंकि इससे जिन नए भौतिक आधारों की परंपरा का सूत्रपात हुआ, उसने सामाजिक चिंतन के संतुलन को ही बदल दिया। आर्थिक मंण्डियों के लाभवादी दर्शन ने उत्पादन–विक्रय व लाभ संबंधी परम्परागत ईमानदारी, परिश्रम, संतोष, त्याग तथा धर्म–कर्म के संतुलन को काट कर बेईमानी, अवसरवाद, भ्रष्टाचार, मिलावट, स्वार्थपरता, कालाबाजारी, धोखाधड़ी आदि को रेखांकित करके वणिक्–वृति की श्रीवृद्धि की। अपने देश में इस उद्यौगीकरण का एक अपना निजी चरित्र रहा है जिसे कमलेश्वर ने 'राजनैतिक औद्योगिकरण' की संबा दी है, 'जिसके फलस्वरूप हमें राजनीतिक उद्योग के जमाने से गुजरना पड़ रहा है। यद्यपि देश में औद्योगीकरण होता तो राष्ट्रीय संपत्ति बढ़ती और हमारी पीढ़ी की मानसिक दशा बिल्कुल दूसरी होती। राजनैतिक उद्योग के कारण हम जातिवाद, नपुंसकता, भ्रष्टाचार, अनाचार और अत्याचार जैसे राष्ट्रीय संपदा के हकदार बने।''[3]

ऐसी स्थिति में धर्म, सभ्यता, संस्कृति, राजनीति, प्रजातंत्र, समाजवाद, राष्ट्र, राष्ट्रीयता आदि सभी व्याख्या–सापेक्ष भावनाएं अपने परंपरागत संदर्भों और अर्थों से कटकर जिन एकांगी दृष्टिकोणों से परिभाषित की गई उन्होनें हमारे यथार्थ को ही बदल डाला। इसलिए अब धर्म और संस्कृति, मान और मर्यादा ने एक विशेष प्रकार की निर्धनता और विकृति को जन्म दिया। परिणामतः हम उत्तरोत्तर शून्य, अर्थहीन, निरूद्देश्यता, व्यर्थताबोध, अकेलेपन की नियति को ही सर्वस्व मान बैठे।

आधुनिक युगीन कहानी में हमें जिस सांस्कृतिमक–संकट से गुजरना पड़ रहा है, उसका कारण उसी आत्मिक ऊर्जा में अभूतपूर्व संकट है। हमारे यहां सदा ही धर्म का सारी सामाजिक

[1] नई कहानी की भूमिका, कमलेश्वर, पृष्ठ 34–35
[2] वही, पृष्ठ 162
[3] नई कहानी की भूमिका, कमलेश्वर, पृष्ठ 110

व्यवस्था पर प्रभाव रहा। पहले किसी भी प्रकार के आत्मिक या सांस्थानिक परिवर्तन के लिए धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता था अर्थात् धर्म परिवर्तन पहले और अन्य परिवर्तन बाद में होते थे। परंतु इधर जो क्रान्तिकारी दबाव पड़े, उनके परिणामस्वरूप सामाजिकता पर धर्म का एकाधिकार समाप्त हो गया। नई परिस्थितियों में धर्म के प्रति आस्था समाप्तप्राय हो गई और धर्म परिवर्तन की आवश्यकता के बिना ही, सांस्कृतिक–परिवर्तन की प्रक्रिया यथावत चलती रही।[1] ''धर्म अब गति देने वाली शक्ति नहीं रह गया। इसलिए अब एक अजीब तरह की निर्धनता पैदा हुई है। जीवन पद्धति के मूल्यों को तय करने का काम भी धर्म अब नहीं करता और हमारे जमाने के सवालों के जवाब देता है।''[2] फलतः धर्म के शिकंजे से निकल कर सांस्कृतिक–धारा बिना लक्ष्य और ध्यातव्य के जिस तीव्रता से अग्रसर हुई, उसने हमारी सारी सामाजिक व्यवस्था के वैधानिक पक्ष पर दबाव डाला।

जैसा कि कहा जा चुका है, मध्ययुगीन विचारों का आधार विश्वास अर्थात् धर्म था जो अपनी जर्जरता पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण का दबाव पाने के कारण अपने ही खोल में झनझनाने लगा। परिणामस्वरूप परंपरागत सारे नैतिकशास्त्र और आचरण झूठे असामयिक और खंडित प्रतीत होने लगे जिसने जनसाधारण को हतप्रभ कर दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति तक स्वतंत्रता के आर्दशवादी, रोमांटिक, विभ्रान्तिकृत (डिसइल्युजेनाईज्ड) दिवावस्वप्न इस असंतोष के लिए निकास स्त्रोत का काम करते रहे, लेकिन स्वातंत्रयोत्तर आक्रोश को और तीव्रता दी।

(1) अंध आस्था, धर्मभीरूता, चिंतन और आचरण मे अंतर

धर्म के प्रति हमारी सदियों पुरानी अंध आस्था ने उसे इतना अधिक पनपने का अवसर दिया कि आज हम अपनी धर्म व्यवस्था की सर्वांग जर्जरता, अनुपयोगिता, व्यर्थता और अनावश्यकता के बावजूद भी उसे मन से नकारते हुए कोमल की तरह झिझकते हैं, ''पति का क्रिया–कर्म तो करनी होगी। नहीं मानती, न सही, नहीं जानती, न सही। किंतु मनुष्य मर कर प्रेत होता है यह भी तो नहीं जानती। पुरखे जो कुछ करते आये हैं उसे कर देना भी जरूरी है.....''।[3] हमारे मन में आत्मा–परमात्मा, पाप–पुण्य, स्वर्ग–नरक आदि का भय इतना गहरे पैठ गया है कि हम तत्संबंधी किसी भी स्तर पर कैसे ही विद्रोह के लिए स्वयं को नपुंसक पाते हैं। ईश्वर के विषय में ''भूखा ईश्वर'' का नायक कहता है –– ''महसूस हो रहा था कि भूल से लापरवाही से, उसने (ईश्वर)

---

[1] तुलना के लिए देखिए :

"In the past men had changed their creed without changing their ways of life. Now a process began by which men changed their ways of life without changing their creed."

The Indian Heritage – Humayan Kabir, page 18

[2] नई कहानी की भूमिका, कमलेश्वर, पृष्ठ सं0 156

[3] प्रवासी, रांगेय राघव, (काठ का सपना), पृष्ठ 84

कहीं पर आदमी की पसलियों में कोई काली बूंद बहानी है जिससे आदमी की आत्मा में इतना अंधेरा छा गया है कि वह न सिर्फ अंधेर करता है, वरन् इसे चुपचाप सह भी लेता है।''[1]

जिस भगवान के लिए, यदि वह है तो, हम पागल और जड़ हुए जा रहे हैं ''उसी भगवान के राज्य में आदमी ने आदमी को इस दशा तक ला दिया है कि धरती माँ की छाती भी दरक गई और उसके भीतर छिपा हुआ कष्ट कोहरे सा उबल–उबल कर सबको ग्रसने लगा है।[2] फिर भी अगर कोई धर्म की मूल्यहीनता का प्रश्न उठाता हुआ समाज को कहता है कि ''तुम लोग धोखे में हो''[3] तो उसे जड़ रूढ़ियों की देहरी से धक्के देकर बाहर निकाल दिया जाता है।

दूसरी और हमारा बाह्य परिवेश– विशेषकर शहरी –कुछ इस कदर बदल गया है कि उसमें हमारी परंपरागत धर्म संबंधी विचारधारा नितांत असंगत ही नहीं अनावश्यक हो गई है। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे विश्वासों, आस्थाओं, अर्थात् व्यक्तिगत दृष्टिकोण और बाह्य परिवर्तन अर्थात् सामाजिक दृष्टिकोण में विरोधाभास खड़ा हो गया। हम आचरण और दिखावे में अत्याधुनिक बने रहने पर भी आस्था और विश्वास से जड़ और प्राचीन ही रह गये। ''एक कटी हुई कहानी''[4] की नायिका कुलवंत आधुनिक युगीन कहानी के इस द्विविध–व्यक्तित्व का सटीक प्रमाण है।

बाहरी जीवन के ''इस सारे हल्केपन, बीयर–डांस, कैबरे''[5] के साथ–साथ पाठ–पूजा एवं कट्टरपंथियों की तरह नित्य–नेम, इस पर विडम्बना यह कि हम सब जानते चाहते हुए इस द्विविध व्यवहार से स्वयं को मुक्त न कर सके। पास–पड़ौस में किसी भक्त–भक्तिनी द्वारा गाये जाने वाले भजनों पर ''आसपास के लोग बुरा मनाते'' रहे,[6] 'ईश्वर' को महज ''आदमी की कल्पना''[7] मानते हुए और मंदिरों और मस्जिदों के काले कारनामों से परिचित होते हुए भी हम धर्म की आड़ में चल रहे इन आडम्बरों और नैतिक व्याभिचार के विरूद्ध किसी विद्रोह का सृजन–समर्थन न कर सके।

इस नपुंसक विद्रोह का कारण जनसाधारण की धर्ममीरूता है। यह प्राग्–ऐतिहासिक प्रवृति सदियों से विरासत में पीढ़ी दर पीढ़ी सामाजिक आक्रोश को कुंठित करती रही और धीरे–धीरे भारतीय समाज इस आवश्यक बुराई से इतना आक्रान्त हो गया कि दैनिक जीवन संबंधी प्रत्येक कार्य का आरंभ धार्मिक–अनुष्ठानों द्वारा करना रूढ़ होता चला गया। पुरानी गली में ''प्रसाधन केश

[1] भूखा ईश्वर, धर्मवीर भारती, पृष्ठ 43

[2] जरूरत, विष्णु प्रभाकर (मेरी प्रिय कहानियाँ) पृष्ठ 35
[3] भूखा ईश्वर, धर्मवीर भारती, पृष्ठ 43

[4] टूटना तथा अन्य कहानियां, राजेन्द्र यादव
[5] वही
[6] गीता सहस्सर नाम, भीष्म साहनी (भटकती राख), पृष्ठ 216
[7] भूखा ईश्वर, धर्मवीर भारती,(चाँद और टूटे लोग) पृष्ठ 78

कर्तनालय'' अर्थात् नाई की दुकान का मुहुर्त है तो सत्य नारायण की कथा[1] कराई जाने लगी। ''बिना नेमटैम के कल–कब्जे वाली चीज का पुन्याह'' करने के लिए दण्ड जुर्माने के पैसे से पूजा की सामग्री खरीदी जाती रही। ''टूरी'' को सीतला माता के प्रकोप से बचाने के लिए उधार लेकर दूध का खप्पर [2], इकहरे रंग की घज और मुर्गे के चूजे से देवी बचाने को प्रसन्न करने का प्रयास[3], होते रहे, बैल की टांग ठीक कर देने की प्रार्थना के लिए डीह देवता की पूजा हेतु उधार लाकर सामान पुजारी को पहुंचाया जाता रहा[4] पिता की रोग मुक्ति की समस्या है तो सत्यनारायण की कथा घराई जाती रही[5] गांठे अच्छे भाव बिकवानी हों तो अनुष्ठान होते रहे, लड़की की शादी हो तो कथा होगी। बेटा राधा को 80रूपये की नौकरी मिले तो ''महीने भर का कल्पवास'' होगा[6], बाढ़ से मुक्ति पानी है तो कथा होगी : पुलिस और सरकारी नियमों के बाहर जाकर मृत व्यक्ति की आत्मा हेतु श्राद्ध होते रहे, पति के क्रियाकर्म के लिए गहने तक बेझिझक बेचे गये[7], वृद्ध पिता 'आयकर' की क्रियाकर्म[8] हेतु गोपालन को कोमल से सौ रूपया लेने पड़े और पति के सकुशल घर लौट आने की प्रार्थना में कंकाली देवी की मढ़िया तक दंड भरते हुए जाने की मनोतियां मनाई जाती रही[9] आदि आदि।

भारतीय समाज की धर्म–भीरूता की एक विशेषता यह है कि सुख शांति से धार्मिक आस्था में जो लोच आ भी जाती है, दुःख आपत्ति आते ही वह समग्र–प्रज्ञा दुःख निदान के प्रयासों के स्थान पर ईश भक्ति में लग जाती है। यहां 'मुसीबत' के समय हमेशा भगवान का सहारा' लिया जाता रहा है[10], गांव को एकाएक बाढ़ से घिरा पाकर 'बूढ़ों' के गले श्रद्धाभरी अनगिनत प्रार्थनाओं में डूबे थे– है काली, हे कंकाली भैरोदेव, हे टोरियोवाले बाबा, गांव को बचा लो। आज की रात लाज धर लो। औरतें महादेव और बड़देव को मना रही थीं। सब अलग–अलग मनौती मान रही थीं।[11] इस पर विडम्बना यह कि डूबते गांव को बचाने या स्वयं बच निकलने के प्रयास के स्थान पर देवी देवताओं को पुकारा जाने लगा और बाढ़ के कारणों की जांच इस प्रकार आरंभ कर दी––

''इस बार मेले में खेरमाई का पूजन ठीक से तो हुई थी न ?''[12]

---

[1] मौत का सामान, शैलेश मटियानी (मेरी तैंतीस कहानियां), पृष्ठ 30
[2] पंच लाईट, रेणु (ठुमरी), पृष्ठ 86
[3] पाप–जीवी, शिवप्रसाद सिंह (कर्मनाशा की हार), पृष्ठ 44
[4] कामयाबी – नाकामयाबी, हर्षनाथ (कल्पना), नवम्बर 1654
[5] तूफान का अंत, श्री सागर (कल्पना), जनवरी, 1644
[6] किराये का काम, राजेन्द्र यादव (जहां लक्ष्मी कैद है), पृष्ठ 51
[7] बंद गली का आखिरी मकान, धर्मवीर भारती पृ0 68
[8] प्रेत मुक्ति, शैलेश मटियानी
[9] मौत का सामान, शैलेश मटियानी (मेरी तैंतीस कहानियां), पृष्ठ 8
[10] एक था विमल, कृष्ण बलदेव वैद (बीच का दरवाजा), पृष्ठ 170 और 'जली हुई रस्सी' शानी (बबूल की छांव), पृष्ठ 21
[11] काले और सफेद साये, राजेन्द्र अवस्थी (एक प्यास पहेली), पृष्ठ 38
[12] वही , पृष्ठ 57–58

औरतें कह रही थीं– टोरियों का देवता बिगड़ गया दीखता है।''[1] किसी ने पूछा, ''करनी गेंवडे के देवता की है फागुन सेंगरा को जाते समय पूजन किया था किसी ने ?''[2] इसी तरह अगर सूखा पड़ जाता और फसल न होती तो इसे भी भगवान की कृपा या आक्रोश की ठहराया जाता। ''एक बांह धरती के ऊपर'' में मांझी दादा ''परसू'' से कहता है–– 'दो चार सालों से न जाने क्यों हमारा देवता हम से नाराज है ? देवी भी दया नहीं करती, पूजन करने में क्या कसर की है ? और देवी को प्रसन्न करने के लिए देवी मातल की मढ़िया के सामने सारा गांव जमा हो गया था सब ने देवी की अभ्यर्थना की। गीत गाये, पैरों को थिरकन दी।

निष्कर्ष

हमारे यहां सदा ही धर्म का सारी सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव रहा। पहले किसी भी प्रकार के आत्मिक या सांस्थानिक परिवर्तन के लिए धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता था अर्थात् धर्म परिवर्तन पहले और अन्य परिवर्तन बाद में होते थे। आधुनिक युगीन कहानी में हमें जिस सांस्कृतिमक–संकट से गुजरना पड़ रहा है, उसका कारण उसी आत्मिक ऊर्जा में अभूतपूर्व संकट है। हमारे यहां सदा ही धर्म का सारी सामाजिक व्यवस्था पर प्रभाव रहा। पहले किसी भी प्रकार के आत्मिक या सांस्थानिक परिवर्तन के लिए धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता था अर्थात् धर्म परिवर्तन पहले और अन्य परिवर्तन बाद में होते थे।

[1] एक बांह धरती के ऊपर, वही पृष्ठ 48
[2] वही पृष्ठ 48